आधुनिक विश्व में चरवाहे

चित्र 1 - पूर्वी गढ़वाल के बुग्याल में चरती भेड़ें.
बुग्याल ऊँचे पहाड़ों पर 12,000 फुट से भी ज़्यादा ऊँचाई पर स्थित विशाल प्राकृतिक चरागाह होते हैं। जाड़ों में ये बर्फ़ से ढके रहते हैं और अप्रैल के बाद हरे-भरे हो जाते हैं। इस समय पहाड़ियों की तलहटी तरह-तरह की घास, जड़ों और जड़ी-बूटियों से भरी रहती है। मॉनसून तक इन चरागाहों में घनी हरियाली छा जाती है और चारों तरफ फूल ही फूल दिखाई देने लगते हैं।

इस अध्याय में आप घुमंतू चरवाहों के बारे में पढ़ेंगे। घुमंतू ऐसे लोग होते हैं जो किसी एक जगह टिक कर नहीं रहते बल्कि रोज़ी-रोटी के जुगाड़ में यहाँ से वहाँ घूमते रहते हैं। देश के कई हिस्सों में हम घुमंतू चरवाहों को अपने जानवरों के साथ आते-जाते देख सकते हैं। चरवाहों की किसी टोली के पास भेड़-बकरियों का रेवड़ या झुंड होता है तो किसी के पास ऊँट या अन्य मवेशी रहते हैं। क्या उन्हें देख कर आपने कभी इस बारे में सोचा है कि वे कहाँ से आए हैं और कहाँ जा रहे हैं? क्या आपको पता है कि वे कैसे रहते हैं, उनकी आमदनी के साधन क्या हैं और उनका अतीत क्या था?

चरवाहों को इतिहास की पुस्तकों में विरले ही जगह मिल पाती है। जब भी आप अर्थव्यवस्था के बारे में पढ़ते हैं – फिर चाहे वह इतिहास की कक्षा हो या अर्थशास्त्र की – सिर्फ़ कृषि और उद्योगों के बारे में ही पढ़ते हैं। कभी-कभार इन कक्षाओं में कारीगरों के बारे में भी पढ़ने को मिल जाता है। लेकिन चरवाहों के बारे में पढ़ने-लिखने को ज़्यादा कुछ नहीं मिलता। मानो उनकी ज़िंदगी का कोई मतलब ही न हो। अकसर मान लिया जाता है कि वे ऐसे लोग हैं जिनके लिए आज की आधुनिक दुनिया में कोई जगह नहीं है; जैसे उनका दौर बीत चुका हो।

इस अध्याय में आप देखेंगे कि भारत और अफ़्रीका जैसे समाजों में चरवाही का कितना महत्त्व है। यहाँ आप जानेंगे कि उपनिवेशवाद ने उनकी ज़िंदगी पर कितना गहरा असर डाला है और इन समुदायों ने आधुनिक समाज के दबावों का किस तरह सामना किया है। इस भाग में हम पहले भारत और उसके बाद अफ़्रीका के चरवाहों की ज़िंदगी का अध्ययन करेंगे।

1 घुमंतू चरवाहे और उनकी आवाजाही

1.1 पहाड़ों में

जम्मू और कश्मीर के गुज्जर बकरवाल समुदाय के लोग भेड़-बकरियों के बड़े-बड़े रेवड़ रखते हैं। इस समुदाय के अधिकतर लोग अपने मवेशियों के लिए चरागाहों की तलाश में भटकते-भटकते उन्नीसवीं सदी में यहाँ आए थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया वे यहीं के होकर रह गए; यहीं बस गए। इसके बाद वे सर्दी-गर्मी के हिसाब से अलग-अलग चरागाहों में जाने लगे। जाड़ों में जब ऊँची पहाड़ियाँ बर्फ़ से ढक जातीं तो वे शिवालिक की निचली पहाड़ियों में आकर डेरा डाल लेते। जाड़ों में निचले इलाके में मिलने वाली सूखी झाड़ियाँ ही उनके जानवरों के लिए चारा बन जातीं। अप्रैल के अंत तक वे उत्तर दिशा में जाने लगते – गर्मियों के चरागाहों के लिए। इस सफ़र में कई परिवार काफ़िला बना कर साथ-साथ चलते थे। वे पीर पंजाल के दर्रों को पार करते हुए कश्मीर की घाटी में पहुँच जाते। जैसे ही गर्मियाँ शुरू होतीं, जमी हुई बर्फ़ की मोटी चादर पिघलने लगती और चारों तरफ़ हरियाली छा जाती। इन दिनों में यहाँ उगने वाली तरह-तरह की घास से मवेशियों का पेट भी भर जाता था और उन्हें सेहतमंद खुराक भी मिल जाती थी। सितंबर के अंत में बकरवाल एक बार फिर अपना बोरिया-बिस्तर समेटने लगते। इस बार वे वापस अपने जाड़ों वाले ठिकाने की तरफ़ नीचे की ओर चले जाते। जब पहाड़ों की चोटियों पर बर्फ़ जमने लगती तो वे निचली पहाड़ियों की शरण में चले जाते।

पास के ही पहाड़ों में चरवाहों का एक और समुदाय रहता था। हिमाचल प्रदेश के इस समुदाय को गद्दी कहते हैं। ये लोग भी मौसमी उतार-चढ़ाव का सामना करने के लिए इसी तरह सर्दी-गर्मी के हिसाब से अपनी जगह बदलते रहते थे। वे भी शिवालिक की निचली पहाड़ियों में अपने मवेशियों को झाड़ियों में चराते हुए जाड़ा बिताते थे। अप्रैल आते-आते वे उत्तर की तरफ़ चल पड़ते और पूरी गर्मियाँ लाहौल और स्पीति में बिता देते। जब बर्फ़ पिघलती और ऊँचे दर्रे खुल जाते तो उनमें से बहुत सारे ऊपरी पहाड़ों में स्थित घास के मैदानों में जा पहुँचते थे। सितंबर तक वे दोबारा वापस चल पड़ते। वापसी में वे लाहौल

चित्र 2 - मध्य गढ़वाल के ऊँचे पहाड़ों में एक गुज्जर मंडप. *गुज्जर गड़रिये बुग्याल में मिलने वाले रिंगल (एक तरह का पहाड़ी बाँस) और घास से बने मंडपों में रहते हैं। इन्हीं मंडपों का इस्तेमाल कार्यस्थल के रूप में भी होता था। यहाँ गुज्जर घी निकालते थे और उसे बेचते थे। हाल के सालों में वे बसों और ट्रकों में भर कर भी दूध ले जाने लगे हैं। ये मंडप 10,000 से 11,000 फुट की ऊँचाई पर होते हैं। भैंसें इससे ज़्यादा ऊँचाई पर नहीं जा सकतीं।*

स्रोत क

1850 के दशक में जी. सी. बार्न्स ने काँगड़ा के गुज्जरों का वर्णन इस प्रकार किया था :

'पहाड़ियों में रहने वाले गुज्जर शुद्ध चरवाहा कबीले के लोग हैं। वे लगभग न के बराबर खेती करते हैं। गद्दियों के पास भेड़-बकरियाँ होती हैं तो गुज्जर गाय-भैंस पालते हैं। ये लोग जंगलों के किनारे रहते हैं और दूध, घी और मवेशियों से मिलने वाली दूसरी चीज़ें बेच कर अपना पेट पालते हैं। घर के मर्द मवेशियों को चराने ले जाते हैं और कई बार हफ़्तों तक घर नहीं लौटते। इस बीच वे जंगल में अपने रेवड़ के साथ ही रहते हैं। औरतें सिर पर टोकरियाँ और कंधे पर हाँडियाँ लटका कर रोज बाज़ार चली जाती हैं। उनकी हाँडियों में दूध, मक्खन और घी आदि होता है। वे सिर्फ़ इतनी चीज़ें ही बाज़ार में ले जा पाती हैं जितनी घर चलाने के लिए काफ़ी हों। गर्मियों में गुज्जर अपने रेवड़ों को लेकर प्रायः ऊपरी इलाकों में चले जाते हैं जहाँ उनकी भैंसों को न केवल बहुत सारी हरी-भरी बरसाती घास मिल जाती है और वे शीतोष्ण (न ज़्यादा ठंडा, न ज़्यादा गरम) मौसम के हिसाब से खुद को ढाल लेती हैं बल्कि उन ज़हरीली मक्खियों से भी छुटकारा मिल जाता है जो मैदानों में उनका जीना मुहाल किए रहते हैं।'

जी सी बार्न्स, *सेटलमेंट रिपोर्ट ऑफ़ काँगड़ा,* 1850-55.

चित्र 3 – ऊन उतरने का इंतज़ार। हिमाचल प्रदेश स्थित पालमपुर के पास उह्ल घाटी.

और स्पीति के गाँवों में एक बार फिर कुछ समय के लिए रुकते। इस बीच वे गर्मियों की फ़सलें काटते और सर्दियों की फ़सलों की बुवाई करके आगे बढ़ जाते। यहाँ से वे अपने रेवड़ लेकर शिवालिक की पहाड़ियों में जाड़ों वाले चरागाहों में चले जाते और अगली अप्रैल में भेड़-बकरियाँ लेकर वे दोबारा गर्मियों के चरागाहों की तरफ़ रवाना हो जाते।

आइए, अब ज़रा और पूर्व की तरफ़ चलें। गढ़वाल और कुमाऊँ के गुज्जर चरवाहे सर्दियों में **भाबर** के सूखे जंगलों की तरफ़ और गर्मियों में ऊपरी घास के मैदानों – **बुग्याल** – की तरफ़ चले जाते थे। इनमें से बहुत सारे हरे-भरे चरागाहों की तलाश में उन्नीसवीं सदी में जम्मू से उत्तर प्रदेश की पहाड़ियों में आए थे और बाद में यहीं बस गए।

सर्दी-गर्मी के हिसाब से हर साल चरागाह बदलते रहने का यह चलन हिमालय के पर्वतों में रहने वाले बहुत सारे चरवाहा समुदायों में दिखायी देता था। यहाँ के भोटिया, शेरपा और किन्नौरी समुदाय के लोग भी इसी तरह के चरवाहे थे। ये सभी समुदाय मौसमी बदलावों के हिसाब से ख़ुद को ढालते थे और अलग-अलग इलाकों में पड़ने वाले चरागाहों का बेहतरीन इस्तेमाल करते थे। जब एक चरागाह की हरियाली खत्म हो जाती थी या इस्तेमाल के काबिल नहीं रह जाती थी तो वे किसी और चरागाह की तरफ़ चले जाते थे। इस आवाजाही से चरागाह ज़रूरत से ज़्यादा इस्तेमाल से भी बच जाते थे और उनमें दोबारा हरियाली व ज़िंदगी भी लौट आती थी।

नए शब्द

भाबर : गढ़वाल और कुमाऊँ के इलाके में पहाड़ियों के निचले हिस्से के आसपास पाए जाने वाला शुष्क या सूखे जंगल का इलाका।

बुग्याल : ऊँचे पहाड़ों में स्थित घास के मैदान।

चित्र 4 – गद्दी भेड़ों की ऊन उतार रहे हैं.
सितंबर तक गद्दी ऊँचे मैदानों (धार) से नीचे आने लगते हैं। रास्ते में कुछ समय रुक कर वे अपनी भेड़ों की ऊन उतरवाते हैं। ऊन काटने से पहले भेड़ों को नहला-धुला कर साफ़ किया जाता है।

1.2 पठारों, मैदानों और रेगिस्तानों में

चरवाहे सिर्फ़ पहाड़ों में ही नहीं रहते थे। वे पठारों, मैदानों और रेगिस्तानों में भी बहुत बड़ी संख्या में मौजूद थे।

धंगर महाराष्ट्र का एक जाना-माना चरवाहा समुदाय है। बीसवीं सदी की शुरुआत में इस समुदाय की आबादी लगभग 4,67,000 थी। उनमें से ज़्यादातर गड़रिये या चरवाहे थे हालाँकि कुछ लोग कम्बल और चादरें भी बनाते थे जबकि कुछ भैंस पालते थे। धंगर गड़रिये बरसात के दिनों में महाराष्ट्र के मध्य पठारों में रहते थे। यह एक अर्ध-शुष्क इलाका था जहाँ बारिश बहुत कम होती थी और मिट्टी भी खास उपजाऊ नहीं थी। चारों तरफ़ सिर्फ़ कंटीली झाड़ियाँ होती थीं। बाजरे जैसी सूखी फ़सलों के अलावा यहाँ और कुछ नहीं उगता था। मॉनसून में यह पट्टी धंगरों के जानवरों के लिए एक विशाल चरागाह बन जाती थी। अक्तूबर के आसपास धंगर बाजरे की कटाई करते थे और चरागाहों की तलाश में पश्चिम की तरफ़ चल पड़ते थे। करीब महीने भर पैदल चलने के बाद वे अपने रेवड़ों के साथ कोंकण के इलाके में जाकर डेरा डाल देते थे। अच्छी बारिश और उपजाऊ मिट्टी की बदौलत इस इलाके में खेती खूब होती थी। कोंकणी किसान भी इन चरवाहों का दिल खोलकर स्वागत करते थे। जिस समय धंगर कोंकण पहुँचते थे उसी समय कोंकण के किसानों को **खरीफ़** की फ़सल काट कर अपने खेतों को **रबी** की फ़सल के लिए दोबारा उपजाऊ बनाना होता था।

चित्र 5 – पश्चिमी राजस्थान के थार रेगिस्तान में चरते राइका समुदाय के ऊँट.
यहाँ पाई जाने वाली सूखी और कँटीली झाड़ियों के सहारे सिर्फ़ ऊँट ही ज़िंदा रह सकते हैं; लेकिन पर्याप्त भोजन पाने के लिए उन्हें बहुत बड़े इलाके में चरना पड़ता है।

धंगरों के मवेशी खरीफ़ की कटाई के बाद खेतों में बची रह गई **ठूँठों** को खाते थे और उनके गोबर से खेतों को खाद मिल जाती थी। कोंकणी किसान धंगरों को चावल भी देते थे जिन्हें वे वापस अपने पठारी इलाके में ले जाते थे क्योंकि वहाँ इस तरह के अनाज बहुत कम होते थे। मॉनसून की बारिश शुरू होते ही धंगर कोंकण और तटीय इलाके छोड़कर सूखे पठारों की तरफ़ लौट जाते थे क्योंकि भेड़ें गीले मॉनसूनी हालात को बर्दाश्त नहीं कर पातीं।

कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में भी सूखे मध्य पठार घास और पत्थरों से अटे पड़े थे। इनमें मवेशियों, भेड़-बकरियों और गड़रियों का ही बसेरा रहता था।

नए शब्द

रबी : जाड़ों की फ़सलें जिनकी कटाई मार्च के बाद शुरू होती है।

खरीफ़ : सितंबर-अक्तूबर में कटने वाली फ़सलें।

ठूँठ : पौधों की कटाई के बाद ज़मीन में रह जाने वाली उनकी जड़।

यहाँ गोल्ला समुदाय के लोग गाय-भैंस पालते थे जबकि कुरुमा और कुरुबा समुदाय भेड़-बकरियाँ पालते थे और हाथ के बुने कम्बल बेचते थे। ये लोग जंगलों और छोटे-छोटे खेतों के आसपास रहते थे। वे अपने जानवरों की देखभाल के साथ-साथ कई दूसरे काम-धंधे भी करते थे। पहाड़ी चरवाहों के विपरीत यहाँ के चरवाहों का एक स्थान से दूसरे स्थान जाना सर्दी-गर्मी से तय नहीं होता था। ये लोग बरसात और सूखे मौसम के हिसाब से अपनी जगह बदलते थे। सूखे महीनों में वे तटीय इलाकों की तरफ़ चले जाते थे जबकि बरसात शुरू होने पर वापस चल देते थे। मॉनसून के दिनों में तटीय इलाकों में जिस तरह के गीले दलदली हालात पैदा हो जाते थे वे सिर्फ़ भैंसों को ही रास आ सकते थे। ऐसे समय में बाकी जानवरों को सूखे पठारी इलाकों में ले जाना ज़रूरी था।

चरवाहों में एक जाना-पहचाना नाम बंजारों का भी है। बंजारे उत्तर प्रदेश, पंजाब, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के कई इलाकों में रहते थे। ये लोग बहुत दूर-दूर तक चले जाते थे और रास्ते में अनाज और चारे के बदले गाँव वालों को खेत जोतने वाले जानवर और दूसरी चीज़ें बेचते जाते थे। वे जहाँ भी जाते अपने जानवरों के लिए अच्छे चरागाहों की खोज में रहते।

स्रोत ख

बहुत सारे मुसाफ़िरों के विवरणों में हमें चरवाहा समुदायों की ज़िंदगी की झलक मिलती है। मिसाल के तौर पर, उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में बुकानन ने मैसूर की अपनी यात्रा के दौरान गोल्ला समुदाय का दौरा किया था। अपने इस अनुभव के आधार पर उन्होंने लिखा :

'उनके परिवार जंगलों के किनारे छोटे-छोटे गाँवों में रहते हैं। यहाँ वे थोड़ी-सी ज़मीन पर खेती करते हैं, थोड़े-बहुत जानवर रखते हैं और पास के कस्बों में जाकर दुग्ध उत्पाद बेचते हैं। उनके परिवार बहुत बड़े होते हैं। एक-एक घर में सात-आठ नौजवान आसानी से मिल जाएँगे। उनमें से दो-तीन लोग जंगल में जानवर चराते हैं जबकि बाकी अपने खेत संभालते हैं और कस्बों में जलावन की लकड़ी, छप्पर के लिए पुआल आदि पहुँचाते हैं।'

फ़्रांसिस हेमिल्टन बुकानन, *ए जर्नी फ़्रॉम मद्रास थ्रू दि कंट्रीज़ ऑफ़ मैसूर, कनारा एण्ड मालाबार* (लंदन, 1807)।

क्रियाकलाप

स्रोत क और ख को पढ़िए :

- इन स्रोतों के आधार पर संक्षेप में बताइए कि चरवाहा परिवारों के औरत-मर्द क्या-क्या काम करते थे।
- आपकी राय में चरवाहे जंगलों के आसपास ही क्यों रहते हैं?

राजस्थान के रेगिस्तानों में राइका समुदाय रहता था। इस इलाके में बारिश का कोई भरोसा नहीं था। होती भी थी तो बहुत कम। इसीलिए खेती की उपज हर साल घटती-बढ़ती रहती थी। बहुत सारे इलाकों में तो दूर-दूर तक कोई फ़सल होती ही नहीं थी। इसके चलते राइका खेती के साथ-साथ चरवाही का भी काम करते थे। बरसात में तो बाड़मेर, जैसलमेर, जोधपुर और बीकानेर के राइका अपने गाँवों में ही रहते थे क्योंकि इस दौरान उन्हें वहीं चारा मिल जाता था। पर, अक्तूबर आते-आते ये चरागाह सूखने लगते थे। नतीजतन ये लोग नए चरागाहों की तलाश में दूसरे इलाकों की तरफ़ निकल जाते थे और अगली बरसात में ही वापस लौटते थे। राइकाओं का एक तबका ऊँट पालता था जबकि कुछ भेड़-बकरियाँ पालते थे।

चित्र 6 – अपने ऊँट के साथ एक ऊँटपालक.
यह राजस्थान में जैसलमेर के निकट थार का रेगिस्तान है। इस इलाके के ऊँट पालकों को मारू (रेगिस्तान) राइका और उनकी बस्ती को ढंडी कहा जाता है।

इस तरह हम देख सकते हैं कि चरवाहा समुदायों की ज़िंदगी कई चीज़ों के बारे में काफ़ी सोच-विचार करके आगे बढ़ती थी। उन्हें इस

चित्र 7 – पश्चिमी राजस्थान में बलोतरा स्थित ऊँट मेला.
ऊँटपालक यहाँ ऊँटों की खरीद–फ़रोख्त के लिए आते हैं। मेले में मारू राइका ऊँटों के प्रशिक्षण में अपनी महारत का भी प्रदर्शन करते हैं। इस मेले में गुजरात से घोड़े भी लाए जाते हैं।

बात का हमेशा खयाल रखना पड़ता था कि उनके रेवड़ एक इलाके में कितने दिन तक रह सकते हैं और उन्हें कहाँ पानी और चरागाह मिल सकते हैं। उन्हें न केवल एक इलाके से दूसरे इलाके में जाने का सही समय चुनना पड़ता था बल्कि यह भी देखना पड़ता था कि उन्हें किन इलाकों से गुज़रने की छूट मिल पाएगी और किन इलाकों से नहीं। सफ़र के दौरान उन्हें रास्ते में पड़ने वाले गाँवों के किसानों से भी अच्छे संबंध बनाने पड़ते थे ताकि उनके जानवर किसानों के खेतों में घास चर सकें और उनको उपजाऊ बनाते चलें। अपनी रोजी–रोटी के जुगाड़ में उन्हें खेती, व्यापार और चरवाही, ये सारे काम करने पड़ते थे।

आइए, अब देखें कि औपनिवेशिक शासन के दौरान यानी अंग्रेज़ों के ज़माने में चरवाहों का जीवन किस तरह बदला?

चित्र 8 – पुष्कर का ऊँट मेला.

चित्र 9 – मारू राइकाओं की वंशावली बताने वाला.
वंशावली बताने वाला समुदाय का इतिहास बताता है। इस तरह की मौखिक परंपराओं से चरवाहा समुदायों को अपनी पहचान का भाव मिलता है। इन परंपराओं से हम यह पता लगा सकते हैं कि कोई समूह अपने अतीत को किस तरह देखता है।

चित्र 10 – चरागाहों की तलाश में निकले मालधारी चरवाहे। *उनके गाँव कच्छ की रन में स्थित हैं.*

2 औपनिवेशिक शासन और चरवाहों का जीवन

औपनिवेशिक शासन के दौरान चरवाहों की ज़िंदगी में गहरे बदलाव आए। उनके चरागाह सिमट गए, इधर-उधर आने-जाने पर बंदिशें लगने लगीं और उनसे जो लगान वसूल किया जाता था उसमें भी वृद्धि हुई। खेती में उनका हिस्सा घटने लगा और उनके पेशे और हुनरों पर भी बहुत बुरा असर पड़ा।

आइए देखें कि यह सब कैसे और क्यों हुआ?

पहली बात : अंग्रेज़ सरकार चरागाहों को खेती की ज़मीन में तब्दील कर देना चाहती थी। ज़मीन से मिलने वाला लगान उसकी आमदनी का एक बड़ा स्रोत था। खेती का क्षेत्रफल बढ़ने से सरकार की आय में और बढ़ोतरी हो सकती थी। इतना ही नहीं, इससे जूट (पटसन), कपास, गेहूँ और अन्य खेतिहर चीज़ों के उत्पादन में भी इजाफ़ा हो जाता जिनकी इंग्लैंड में बहुत ज़्यादा ज़रूरत रहती थी। अंग्रेज़ अफ़सरों को बिना खेती की ज़मीन का कोई मतलब समझ में नहीं आता था : उससे न तो लगान मिलता था और न ही उपज। अंग्रेज़ ऐसी ज़मीन को 'बेकार' मानते थे। उसे खेती के लायक बनाना ज़रूरी था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से देश के विभिन्न भागों में परती भूमि विकास के लिए नियम बनाए जाने लगे। इन कायदे-कानूनों के ज़रिए सरकार गैर-खेतिहर ज़मीन को अपने कब्ज़े में लेकर कुछ खास लोगों को सौंपने लगी। इन लोगों को कई तरह की रियायतें दी गईं और इस ज़मीन को खेती के लायक बनाने और उस पर खेती करने के लिए जम कर बढ़ावा दिया गया। ऐसे कुछ लोगों को गाँव का मुखिया बना दिया गया। इस तरह कब्ज़े में ली गई ज़्यादातर ज़मीन चरागाहों की थी जिनका चरवाहे नियमित रूप से इस्तेमाल किया करते थे। इस तरह खेती के फैलाव से चरागाह सिमटने लगे और चरवाहों के लिए समस्याएँ पैदा होने लगीं।

दूसरी बात : उन्नीसवीं सदी के मध्य तक आते-आते देश के विभिन्न प्रांतों में वन अधिनियम भी पारित किए जाने लगे थे। इन कानूनों की आड़ में सरकार ने ऐसे कई जंगलों को 'आरक्षित' वन घोषित कर दिया जहाँ देवदार या साल जैसी कीमती लकड़ी पैदा होती थी। इन जंगलों में चरवाहों के घुसने पर पाबंदी लगा दी गई। कई जंगलों को 'संरक्षित' घोषित कर दिया गया। इन जंगलों में चरवाहों को चरवाही के कुछ **परंपरागत अधिकार** तो दे दिए गए लेकिन उनकी आवाजाही पर फिर भी बहुत सारी बंदिशें लगी रहीं। औपनिवेशिक अधिकारियों को लगता था कि पशुओं के चरने से छोटे जंगली पौधे और पेड़ों की नई कोपलें नष्ट हो जाती हैं। उनकी राय में, चरवाहों के रेवड़ छोटे पौधों को कुचल देते हैं और कोंपलों को खा जाते हैं जिससे नए पेड़ों की बढ़त रुक जाती है।

वन अधिनियमों ने चरवाहों की ज़िंदगी बदल डाली। अब उन्हें उन जंगलों में जाने से रोक दिया गया जो पहले मवेशियों के लिए बहुमूल्य चारे

स्रोत ग

एच. एस. गिब्सन, वन उपसंरक्षक, दार्जिलिंग, ने 1913 में लिखा था :

'... चरवाही के लिए प्रयोग किए जा रहे जंगल को किसी और काम के लिए प्रयोग नहीं किया जाएगा और वहाँ से इमारती लकड़ी तथा ईंधन इकट्ठा नहीं किया जाएगा जो मुख्य वन उत्पाद होते हैं ...'

क्रियाकलाप

मान लीजिए कि जंगलों में जानवरों को चराने पर रोक लगा दी गई है। इस बात पर निम्नलिखित की दृष्टि से टिप्पणी कीजिए :

- एक वन अधिकारी
- एक चरवाहा

नए शब्द

परंपरागत अधिकार: परंपरा और रीति-रिवाज के आधार पर मिलने वाले अधिकार।

का स्रोत थे। जिन क्षेत्रों में उन्हें प्रवेश की छूट दी गई वहाँ भी उन पर कड़ी नज़र रखी जाती थी जंगलों में दाखिल होने के लिए उन्हें परमिट लेना पड़ता था। जंगल में उनके प्रवेश और वापसी की तारीख पहले से तय होती थी और वह जंगल में बहुत कम ही दिन बिता सकते थे। अब चरवाहे किसी जंगल में ज़्यादा समय तक नहीं रह सकते थे भले ही वहाँ चारा कितना ही हो, घास कितनी भी क्यों न हो, और चारों तरफ घनी हरियाली हो। उन्हें इसलिए निकलता पड़ता था क्योंकि अब उनकी ज़िंदगी वन विभाग द्वारा जारी किए परमिटों के अधीन थी। परमिट में पहले ही लिख दिया जाता था कि वह कानूनन कब तक जंगल में रहेंगे। अगर वह समय-सीमा का उल्लंघन करते थे तो उन पर जुर्माना लगा दिया जाता था।

तीसरी बात : अंग्रेज़ अफ़सर घुमंतू किस्म के लोगों को शक की नज़र से देखते थे। वे गाँव-गाँव जाकर अपनी चीज़ें बेचने वाले कारीगरों व व्यापारियों और अपने रेवड़ के लिए हर साल नए-नए चरागाहों की तलाश में रहने वाले, हर मौसम में अपनी रिहाइश बदल लेने वाले चरवाहों पर यकीन नहीं कर पाते थे। वे चाहते थे कि ग्रामीण जनता गाँवों में रहे, उनकी रिहाइश और खेतों पर उनके अधिकार तय हों। इस तरह की आबादी की पहचान करना और उसको नियंत्रित करना ज़्यादा आसान था जो एक जगह टिक कर रहती हो। ऐसे लोगों को शांतिप्रिय और कानून का पालन करने वाला माना जाता था; घुमंतुओं को अपराधी माना जाता था। 1871 में औपनिवेशिक सरकार ने अपराधी जनजाति अधिनियम (Criminal Tribes Act) पारित किया। इस कानून के तहत दस्तकारों, व्यापारियों और चरवाहों के बहुत सारे समुदायों को अपराधी समुदायों की सूची में रख दिया गया। उन्हें कुदरती और जन्मजात अपराधी घोषित कर दिया गया। इस कानून के लागू होते ही ऐसे सभी समुदायों को कुछ खास अधिसूचित गाँवों/बस्तियों में बस जाने का हुक्म सुना दिया गया। उनकी बिना परमिट आवाजाही पर रोक लगा दी गई। ग्राम्य पुलिस उन पर सदा नज़र रखने लगी।

चौथी बात : अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए अंग्रेज़ों ने लगान वसूलने का हर संभव रास्ता अपनाया। उन्होंने ज़मीन, नहरों के पानी, नमक, खरीद-फ़रोख्त की चीज़ों और यहाँ तक कि मवेशियों पर भी टैक्स वसूलने का एलान कर दिया। चरवाहों से चरागाहों में चरने वाले एक-एक जानवर पर टैक्स वसूल किया जाने लगा। देश के ज़्यादातर चरवाही इलाकों में उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही चरवाही टैक्स लागू कर दिया गया था। प्रति मवेशी टैक्स की दर तेज़ी से बढ़ती चली गई और टैक्स वसूली की व्यवस्था दिनोंदिन मज़बूत होती गई। 1850 से 1880 के दशकों के बीच टैक्स वसूली का काम बाकायदा बोली लगा कर ठेकेदारों को सौंपा जाता था। ठेकेदारी पाने के लिए ठेकेदार सरकार को जो पैसा देते थे उसे वसूल करने और साल भर में ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा बनाने के लिए वे जितना चाहे उतना कर वसूल सकते थे। 1880 के दशक तक आते-आते सरकार ने अपने कारिंदों के माध्यम से सीधे चरवाहों से ही कर वसूलना शुरू कर दिया। हरेक चरवाहे को एक 'पास' जारी कर दिया गया। किसी भी चरागाह में दाखिल होने के लिए चरवाहों को

स्रोत घ

1920 के दशक में *रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर* ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि :

'बढ़ती आबादी, सिंचाई सुविधाओं के विस्तार और रक्षा, उद्योग एवं कृषि प्रायोगिक उद्योगों के लिए सरकार द्वारा चरागाहों के अधिग्रहण की वजह से चरवाही के लिए उपलब्ध इलाकों के क्षेत्रफल में बहुत भारी गिरावट आई है। [अब] पशुपालकों को बड़े-बड़े रेवड़ रखने में मुश्किल पैदा हो रही है। इसकी वजह से उनकी आमदनी में गिरावट आई है। उनके जानवरों की गुणवत्ता और खुराक गिर गई है और कर्ज़े बढ़ते जा रहे हैं।'

द रिपोर्ट ऑफ़ द रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर इन इंडिया, 1928.

क्रियाकलाप

कल्पना कीजिए कि आप उन्नीसवीं सदी के आखिरी सालों यानी सन् 1890 के आसपास रह रहे हैं। आप घुमंतू चरवाहों या कारीगरों के एक समुदाय से ताल्लुक रखते हैं। आपको पता चला है कि सरकार ने आपके समुदाय को अपराधी समुदाय घोषित कर दिया है।

- संक्षेप में बताइए कि यह जानकर आपको कैसा महसूस होता और आप क्या करते।
- स्थानीय कलेक्टर को चिट्ठी लिखकर बताइए कि आपकी नज़र में यह कानून किस तरह अन्यायपूर्ण है और इससे आपकी ज़िंदगी पर क्या असर पड़ेंगे।

पास दिखाकर पहले टैक्स अदा करना पड़ता था। चरवाहे के साथ कितने जानवर हैं और उसने कितना टैक्स चुकाया है, इस बात को उसके पास में दर्ज कर दिया जाता था।

2.1 इन बदलावों ने चरवाहों की जिंदगी को किस तरह प्रभावित किया?

इन चीज़ों की वजह से चरागाहों की गंभीर कमी पैदा हो गई। जैसे-जैसे ज़्यादा से ज़्यादा चरागाहों को सरकारी कब्ज़े में लेकर उन्हें खेतों में बदला जाने लगा, वैसे-वैसे चरागाहों के लिए उपलब्ध इलाका सिकुड़ने लगा। इसी तरह, जंगलों के आरक्षण का नतीजा यह हुआ कि गड़रिये और पशुपालक अब अपने मवेशियों को जंगलों में पहले जैसी आज़ादी से नहीं चरा सकते थे।

जब चरागाह खेतों में बदलने लगे तो बचे-खुचे चरागाहों में चरने वाले जानवरों की तादाद बढ़ने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि चरागाह सदा जानवरों से भरे रहने लगे। अब तक तो घुमंतू चरवाहे अपने मवेशियों को कुछ दिन तक ही एक इलाके में चराते थे और उसके बाद किसी और इलाके में चले जाते थे। इस अदला-बदली की वजह से पिछले चरागाह भी फिर से हरे-भरे हो जाते थे। लेकिन चरवाहों की आवाजाही पर लगी बंदिशों

चित्र 11 - भारत में चरवाहा समुदाय.
इस नक्शे में केवल उन चरवाहा समुदायों के इलाकों का उल्लेख किया गया है जिनके बारे में इस अध्याय में बात की गई है। इनके अलावा भी हमारे देश में कई और चरवाहा समुदाय रहते हैं।

और चरागाहों के बेहिसाब इस्तेमाल से चरागाहों का स्तर गिरने लगा। जानवरों के लिए चारा कम पड़ने लगा। फलस्वरूप जानवरों की सेहत और तादाद भी गिरने लगी। चारे की कमी और जब-तब पड़ने वाले अकाल की वजह से कमज़ोर और भूखे जानवर बड़ी संख्या में मरने लगे।

2.2 चरवाहों ने इन बदलावों का सामना कैसे किया?

इन बदलावों पर चरवाहों की प्रतिक्रिया कई रूपों में सामने आई। कुछ चरवाहों ने तो अपने जानवरों की संख्या ही कम कर दी। अब बहुत सारे जानवरों को चराने के लिए पहले की तरह बड़े-बड़े और बहुत सारे मैदान नहीं बचे थे। जब पुराने चरागाहों का इस्तेमाल करना मुश्किल हो गया तो कुछ चरवाहों ने नए-नए चरागाह ढूँढ़ लिए। मिसाल के तौर पर, ऊँट और भेड़ पालने वाले राइका 1947 के बाद न तो सिंध में दाखिल हो सकते थे और न सिंधु नदी के किनारे अपने जानवरों को चरा सकते थे। भारत और पाकिस्तान के बीच खींच दी गई नई सीमारेखा ने उन्हें उस तरफ़ जाने से रोक दिया। ज़ाहिर है अब उन्हें जानवरों को चराने के लिए नई जगह ढूँढ़नी थी। अब वे हरियाणा के खेतों में जाने लगे हैं जहाँ कटाई के बाद खाली पड़े खेतों में वे अपने मवेशियों को चरा सकते हैं। इसी समय खेतों को खाद की भी ज़रूरत रहती है जो उन्हें इन जानवरों के मल-मूत्र से मिल जाती है।

समय गुज़रने के साथ कुछ धनी चरवाहे ज़मीन खरीद कर एक जगह बस कर रहने लगे। उनमें से कुछ नियमित रूप से खेती करने लगे जबकि कुछ व्यापार करने लगे। जिन चरवाहों के पास ज़्यादा पैसा नहीं था वे सूदखोरों से ब्याज पर कर्ज़ लेकर दिन काटने लगे। इस चक्कर में बहुतों के मवेशी भी हाथ से जाते रहे और वे मज़दूर बन कर रह गए। वे खेतों या छोटे-मोटे कस्बों में मज़दूरी करते दिखाई देने लगे।

इस सबके बावजूद चरवाहे न केवल आज भी ज़िंदा हैं बल्कि हाल के दशकों में कई जगह तो उनकी संख्या में वृद्धि भी हुई है। जब भी किसी इलाके के चरागाहों में उनके दाखिले पर रोक लगा दी जाती वे अपनी दिशा बदल लेते, रेवड़ छोटा कर लेते और नई दुनिया के मिज़ाज से तालमेल बिठाने के लिए दूसरे काम-धंधे भी करने लगते। बहुत सारे पारिस्थिति विज्ञानी मानते हैं कि सूखे इलाकों और पहाड़ों में ज़िंदा रहने के लिए चरवाही ही सबसे व्यावहारिक रास्ता है।

बहरहाल, चरवाहों पर इस तरह के बदलाव सिर्फ़ हमारे देश में ही नहीं थोपे गए थे। दुनिया के बहुत सारे इलाकों में नए कानूनों और बसाहट के नए तौर-तरीकों ने उन्हें आधुनिक दुनिया में आ रहे बदलावों के मुताबिक अपनी ज़िंदगी का ढर्रा बदलने पर मजबूर किया है। आधुनिक विश्व में आए इन बदलावों से निपटने के लिए बाकी देशों के चरवाहों ने क्या रास्ते अपनाए?

3 अफ़्रीका में चरवाहा जीवन

आइए अब ज़रा अफ़्रीका की तरफ़ चलें जहाँ दुनिया की आधी से ज़्यादा चरवाहा आबादी रहती है। आज भी अफ़्रीका के लगभग सवा दो करोड़ लोग रोज़ी-रोटी के लिए किसी न किसी तरह की चरवाही गतिविधियों पर ही आश्रित हैं। इनमें बेदुईन्स, बरबेर्स, मासाई, सोमाली, बोरान और तुर्काना जैसे जाने-माने समुदाय भी शामिल हैं। इनमें से ज़्यादातर अब अर्ध-शुष्क घास के मैदानों या सूखे रेगिस्तानों में रहते हैं जहाँ वर्षा आधारित खेती करना बहुत मुश्किल है। यहाँ के चरवाहे गाय-बैल, ऊँट, बकरी, भेड़ व गधे पालते हैं और दूध, माँस, पशुओं की खाल व ऊन आदि बेचते हैं। कुछ चरवाहे व्यापार और यातायात संबंधी काम भी करते हैं। कुछ चरवाही के साथ-साथ खेती भी करते हैं। कुछ लोग चरवाही से होने वाली मामूली आय से गुजर नहीं हो पाने पर कोई भी धंधा कर लेते हैं।

हिंदुस्तान की तरह अफ़्रीकी चरवाहों की ज़िंदगी में भी औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में गहरे बदलाव आए हैं। आखिर क्या थे ये बदलाव?

चित्र 12 – मासाई लैंड जिसके पीछे किलिमंजारो पहाड़ दिखाई दे रहे हैं.
बदलती परिस्थितियों के कारण मासाई मक्का, चावल, आलू, गोभी जैसे उन खाद्य पदार्थों पर निर्भर होते जा रहे हैं जो उनके इलाके में पैदा नहीं होते। परंपरागत रूप से वे इन चीज़ों को पसंद नहीं करते थे। मासाई मानते हैं कि फ़सल उगाने के लिए ज़मीन पर हल चलाना प्रकृति के विरुद्ध है; यदि आप ज़मीन पर खेती करने लगते हैं तो वह चरवाही के लायक नहीं रहती। सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

चित्र 13 – अफ़्रीका के चरवाहा समुदाय.
छोटी तस्वीर (इनसेट) में कीनिया और तंज़ानिया में मासाइयों का इलाका दर्शाया गया है।

इन परिवर्तनों को हम चरवाहों के एक खास समुदाय के माध्यम से समझने की कोशिश करेंगे। चलिए इसके लिए मासाई नाम के समुदाय को चुन लेते हैं। मासाई पशुपालक मोटे तौर पर पूर्वी अफ़्रीका के निवासी हैं। इनमें से लगभग 3,00,000 दक्षिणी कीनिया में और करीब 1,50,000 तंज़ानिया में रहते हैं। अभी हम देखेंगे कि नए कानूनों और बंदिशों ने किस तरह न केवल उनकी ज़मीन उनसे छीन ली बल्कि उनकी आवाजाही पर भी बहुत सारी पाबंदियाँ थोप दी हैं। इन कानूनों के कारण सूखे के दिनों में उनकी ज़िंदगी गहरे तौर पर बदल गई है और उनके सामाजिक संबंध भी एक नई शक्ल में ढल गए हैं।

3.1 चरागाहों का क्या हुआ?

मासाइयों की सबसे बड़ी समस्या यह रही है कि उनके चरागाह दिनोंदिन सिमटते जा रहे हैं। औपनिवेशिक शासन से पहले मासाईलैंड का इलाका उत्तरी कीनिया से लेकर तंज़ानिया के घास के मैदानों (स्तेपीज़) तक फैला हुआ था। उन्नीसवीं सदी के आखिर में यूरोप की साम्राज्यवादी ताकतों ने अफ़्रीका में कब्ज़े के लिए मारकाट शुरू कर दी और बहुत सारे इलाकों को छोटे-छोटे उपनिवेशों में तब्दील करके अपने-अपने कब्ज़े में ले लिया। 1885 में ब्रिटिश कीनिया और जर्मन तांगान्यिका के बीच एक अंतर्राष्ट्रीय

तांगान्यिका के बारे में

ब्रिटेन ने पहले विश्वयुद्ध के दौरान उस इलाके पर कब्ज़ा कर लिया जिसे जर्मन ईस्ट अफ़्रीका कहा जाता था। 1919 में तांगान्यिका ब्रिटिश नियंत्रण में आ गया। 1961 में उसे आज़ादी मिली और 1964 में ज़ंज़ीबार के विलय के बाद उसे तंज़ानिया का नया नाम दिया गया।

सीमा खींचकर मासाईलैंड के दो बराबर-बराबर टुकड़े कर दिए गए। बाद के सालों में सरकार ने गोरों को बसाने के लिए बेहतरीन चरागाहों को अपने कब्ज़े में ले लिया। मासाइयों को दक्षिणी कीनिया और उत्तरी तंज़ानिया के छोटे से इलाके में समेट दिया गया। औपनिवेशिक शासन से पहले मासाइयों के पास जितनी ज़मीन थी उसका लगभग 60 फ़ीसदी हिस्सा उनसे छीन लिया गया। उन्हें ऐसे सूखे इलाकों में कैद कर दिया गया जहाँ न तो अच्छी बारिश होती थी और न ही हरे-भरे चरागाह थे।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम सालों से ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार पूर्वी अफ़्रीका में भी स्थानीय किसानों को अपनी खेती के क्षेत्रफल को ज़्यादा से ज़्यादा फैलाने के लिए प्रोत्साहित करने लगी। जैसे-जैसे खेती का प्रसार हुआ वैसे-वैसे चरागाह खेतों में तब्दील होने लगे। अंग्रेज़ों के आने से पहले मासाई आर्थिक और राजनीतिक, दोनों स्तर पर अपने किसान पड़ोसियों पर भारी पड़ते थे। औपनिवेशिक शासन के अंत तक आते-आते यह समीकरण बिल्कुल उलट चुका था।

बहुत सारे चरागाहों को शिकारगाह बना दिया गया। कीनिया में मासाई मारा व साम्बूरू नैशनल पार्क और तंज़ानिया में सेरेन्गेटी पार्क जैसे शिकारगाह इसी तरह अस्तित्व में आए थे। इन आरक्षित जंगलों में चरवाहों का आना मना था। इन इलाकों में न तो वे शिकार कर सकते थे और न अपने जानवरों को चरा सकते थे। ऐसे बहुत सारे आरक्षित जंगलों में अब तक मासाई अपने ढोर-डंगर चराया करते थे। मिसाल के तौर पर सेरेन्गेटी नैशनल पार्क का 14,760 वर्ग किलोमीटर से भी ज़्यादा क्षेत्रफल मासाइयों के चरागाहों पर कब्ज़ा करके बनाया गया था।

चित्र 14 – घास के बिना पशु (मवेशी, बकरियाँ और भेड़ें) कुपोषण का शिकार हो जाते हैं जिसका मतलब है कि चरवाहों के परिवारों और बच्चों के लिए भोजन कम पड़ने लगता है। सूखे और भोजन की सर्वाधिक कमी से ग्रस्त इलाका अम्बोसेली नैशनल पार्क के आसपास पड़ता है जिसकी पर्यटन से होने वाली आय पिछले साल लगभग 24 करोड़ कीनियन शिलिंग (लगभग 35 लाख अमेरिकी डॉलर) थी। किलिमंजारो जल परियोजना भी इसी इलाके से होकर जाती है लेकिन यहाँ रहने वाले समुदाय न तो पीने के लिए और न ही सिंचाई के लिए इस परियोजना के पानी का इस्तेमाल कर सकते हैं। सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

चित्र 15 – मासाई नाम 'मा' शब्द से निकला है। मा-साई का मतलब होता है 'मेरे लोग'। परंपरागत रूप से मासाई घुमंतू और चरवाहा समुदाय के लोग होते हैं जो अपनी आजीविका के लिए दूध और माँस पर आश्रित रहते हैं। ऊँचे तापमान और कम वर्षा के कारण यहाँ शुष्क, धूल भरे और बेहद गर्म हालात रहते हैं। इस अर्ध-शुष्क विषुवतवृत्तीय इलाके में सूखे के हालात सामान्य हैं। ऐसे समय में बहुत सारे जानवर मर जाते हैं। सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

स्रोत च

अफ़्रीका की अन्य जगहों पर भी चरवाहों को इसी तरह की मुश्किलों का सामना करना पड़ा। दक्षिण-पश्चिम अफ़्रीका में स्थित नामीबिया के काओकोलैंड चरवाहे परंपरागत रूप से काओकोलैंड और पास ही में स्थित ओवाम्बोलैंड के बीच आते-जाते रहते थे। ये लोग आसपास के बाज़ारों में जानवरों की खाल, गोश्त और अन्य वस्तुएँ बेचा करते थे। नई भौगोलिक सीमाओं ने दूर-दूर के इलाकों में उनके आने-जाने पर पाबंदी लगा दी जिससे उनका पहले की तरह दोनों इलाकों में आना-जाना पूरी तरह बंद हो गया।

नामीबिया स्थित काओकोलैंड के घुमंतू पशुपालकों की शिकायत थी :

'हम बड़ी मुश्किल में हैं। हम बस रोते रहते हैं। हमें कैद में डाल दिया गया है। हमें तो पता भी नहीं कि हमें बंद क्यों किया गया है। हम जेल में हैं। हमारे पास रहने की कोई जगह नहीं है...। हम दक्षिण से गोश्त नहीं ला सकते...। खालों को बाहर नहीं भेज सकते. ..। ओवाम्बोलैंड अब हमारे लिए बंद हो चुका है। हम लंबे समय तक ओवाम्बोलैंड में रहे हैं। हम अपने जानवरों को, अपनी भेड़ों और बकरियों को वहाँ ले जाना चाहते हैं। पर सीमाएँ बंद हैं। ये सीमाएँ हमें मारे दे रही हैं। जीना मुश्किल है।'

नामीबिया स्थित काओकोलैंड के चरवाहों का बयान, नामीबिया, 1949.

माइकेल बॉलिग, 'द कॉलोनियल एनकेप्स्युलेशन ऑफ़ द नॉर्थ वेस्टर्न नामीबियन पास्टोरल इकॉनॉमी', *अफ़्रीका,* 68 (4), 1998 में उद्धृत।

स्रोत छ

औपनिवेशिक अफ़्रीका के बहुत सारे स्थानों पर पुलिस को चरवाहों के आने-जाने पर नज़र रखने और उन्हें गोरों के इलाकों में दाखिल होने से रोकने का बंदोबस्त किया गया था। नामीबिया में काओकोलैंड के चरवाहों के आने-जाने पर पाबंदियाँ लगाने के लिए दक्षिण-पश्चिमी अफ़्रीका के एक मजिस्ट्रेट ने पुलिस को ऐसा ही एक निर्देश दिया था :

'जब तक कोई बहुत खास हालात पैदा न हो जाएँ तब तक इन मूल निवासियों को इलाके में दाखिल होने के लिए पास जारी न किए जाएँ...। इस आदेश का मकसद इलाके में दाखिल होने वाले निवासियों की संख्या पर अंकुश लगाना और उन्हें काबू में रखना है इसलिए उन्हें सामान्य यात्री पास किसी भी हालत में जारी न किए जाएँ।'

'काओकोलैंड परमिट्स टू एंटर', मजिस्ट्रेट द्वारा ऊट्जो और कामान्जाब के पुलिस स्टेशन कमांडरों को लिखा गया पत्र, 24 नवंबर 1937.

स्रोत

अच्छे चरागाहों और जल संसाधनों के हाथ से निकल जाने की वजह से उस छोटे से इलाके पर दबाव बहुत ज़्यादा बढ़ गया जिसमें मासाइयों को धकेल दिया गया था। एक छोटे-से इलाके में लगातार चरायी का नतीजा यह हुआ कि चरागाहों का स्तर गिरने लगा। चारे की हमेशा कमी रहने लगी। मवेशियों का पेट भरना एक स्थायी समस्या बन गया।

3.2 सरहदें बंद हो गईं

उन्नीसवीं सदी में चरवाहे चरागाहों की खोज में बहुत दूर-दूर तक चले जाते थे। जब एक जगह के चरागाह सूख जाते थे तो वे अपने रेवड़ लेकर किसी और जगह चले जाते थे। लेकिन उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशकों से औपनिवेशिक सरकार उनकी आवाजाही पर तरह-तरह की पाबंदियाँ लगाने लगी।

मासाइयों की तरह अन्य चरवाहों को भी विशेष आरक्षित इलाकों की सीमाओं में कैद कर दिया गया। अब ये समुदाय इन आरक्षित इलाकों की सीमाओं के पार आ-जा नहीं सकते थे। वे विशेष परमिट लिए बिना अपने जानवरों को लेकर बाहर नहीं जा सकते थे। लेकिन परमिट हासिल करना भी कोई आसान काम नहीं था। इसके लिए उन्हें तरह-तरह की बाधाओं का सामना करना पड़ता था और उन्हें तंग किया जाता था। अगर कोई नियमों का पालन नहीं करता था तो उसे कड़ी सज़ा दी जाती थी।

चरवाहों को गोरों के इलाके में पड़ने वाले बाज़ारों में दाखिल होने से भी रोक दिया गया। बहुत सारे इलाकों में तो वे कई तरह के व्यापार भी नहीं कर सकते थे। बाहर से आए गोरे और यूरोपीय औपनिवेशिक अफ़सर उन्हें खतरनाक और बर्बर स्वभाव वाला मानते थे। उनकी नज़र में ये ऐसे लोग थे जिनके साथ कम से कम संबंध रखना ही उचित था। लेकिन इन स्थानीय लोगों से किसी भी तरह के संबंध न रखना भी मुमकिन नहीं था। आखिर खानों से माल निकालने, सड़कें बनाने और शहर बसाने के लिए गोरों को इन कालों के श्रम का ही तो भरोसा था।

नई सरहदों ने चरवाहों की ज़िंदगी रातों-रात बदल डाली। नई पाबंदियों और बाधाओं की आड़ में उन्हें प्रताड़ित किया जाने लगा और वे छोटे-से इलाके में खुद को कैद-सा महसूस करने लगे। इससे उनकी चरवाही और व्यापारिक, दोनों तरह की गतिविधियों पर बहुत बुरा असर पड़ा। अब तक

चरवाहे न केवल मवेशी चराते थे बल्कि तरह-तरह के व्यवसाय भी किया करते थे। औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत थोप दी गई बंदिशों से उनका व्यापार बंद तो नहीं हुआ लेकिन अब उस पर तरह-तरह के अंकुश ज़रूर लग गए।

3.3 जब चरागाह सूख जाते हैं

सूखा दुनिया भर के चरवाहों की ज़िंदगी पर असर डालता है। जिस साल बारिश नहीं होती और चरागाह सूख जाते हैं अगर उस साल मवेशियों को किसी हरे-भरे इलाके में न ले जाया जाए तो उनके सामने भुखमरी का संकट पैदा हो जाता है। इसीलिए परंपरागत तौर पर चरवाहे घुमंतू स्वभाव के लोग होते हैं, वे यहाँ से वहाँ जाते ही रहते हैं। इसी घुमंतूपने की वजह से वे बुरे वक्त का सामना कर पाते हैं और संकट से बच निकलते हैं।

लेकिन औपनिवेशिक शासन की स्थापना के बाद तो मासाइयों को एक निश्चित इलाके में कैद कर दिया गया था। उनके लिए एक इलाका आरक्षित कर दिया गया और चरागाहों की खोज में यहाँ-वहाँ भटकने पर रोक लगा दी गई। उन्हें बेहतरीन चरागाहों से महरूम कर दिया गया और एक ऐसी अर्ध-शुष्क पट्टी में रहने पर मजबूर कर दिया गया जहाँ सूखे की आशंका हमेशा बनी रहती थी। क्योंकि ये लोग संकट के समय भी अपने जानवरों को लेकर ऐसी जगह नहीं जा सकते थे जहाँ उन्हें अच्छे चरागाह मिल सकते थे। इसलिए सूखे के सालों में मासाइयों के बहुत सारे मवेशी भूख और बीमारियों की वजह से मारे जाते थे। 1930 की एक जाँच से पता चला कि कीनिया में मासाइयों के पास 7,20,000 मवेशी, 8,20,000 भेड़ और 1,71,000 गधे थे। 1933 और 1934 में पड़े केवल दो साल के सूखे के बाद इनमें से आधे से ज़्यादा जानवर मर चुके थे।

जैसे-जैसे चरने की जगह सिकुड़ती गई, सूखे के दुष्परिणाम भयानक रूप लेते चले गए। बार-बार आने वाले बुरे सालों की वजह से चरवाहों के जानवरों की संख्या में लगातार गिरावट आती गई।

3.4 सब पर एक जैसा असर नहीं पड़ा

औपनिवेशिक काल में अफ़्रीका के बाकी स्थानों की तरह मासाईलैंड में भी आए बदलावों से सारे चरवाहों पर एक जैसा असर नहीं पड़ा। उपनिवेश बनने से पहले मासाई समाज दो सामाजिक श्रेणियों में बँटा हुआ था – वरिष्ठ जन (ऐल्डर्स) और योद्धा (वॉरियर्स)। वरिष्ठ जन शासन चलाते थे। समुदाय से जुड़े मामलों पर विचार-विमर्श करने और अहम फ़ैसले लेने के लिए वे समय-समय पर सभा करते थे। योद्धाओं में ज़्यादातर नौजवान होते थे जिन्हें मुख्य रूप से लड़ाई लड़ने और कबीले की हिफ़ाज़त करने के लिए तैयार किया जाता था। वे समुदाय की रक्षा करते थे और दूसरे कबीलों के मवेशी छीन कर लाते थे। जहाँ जानवर ही संपत्ति हो वहाँ हमला करके दूसरों के जानवर छीन लेना एक महत्त्वपूर्ण काम होता था। अलग-अलग चरवाहा समुदायों की ताकत इन्हीं हमलों से तय होती थी। युवाओं को योद्धा वर्ग का हिस्सा तभी माना जाता था जब वे दूसरे समूह के मवेशियों को छीन कर और

चित्र 16 – योद्धा गहरे लाल रंग की शुका और चमकदार मोतियों के आभूषण पहनते हैं तथा स्टील की नोक वाला पाँच फ़ुट लंबा भाला रखते हैं। बारीकी से सँवारे गए उनके बाल गेरू से रंगे होते हैं। उगते सूरज को सम्मान देने के लिए वे पूर्व की ओर मुँह करके खड़े होते हैं। योद्धा अपने समुदाय की रक्षा करते हैं और लड़के पशुओं को चराते हैं। सूखे के मौसम में योद्धा और लड़के, दोनों ही पशु चराते हैं। सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

चित्र 17 – आज भी योद्धा बनने के लिए युवकों को व्यापक अनुष्ठानों से गुज़रना पड़ता है हालाँकि अब यह प्रथा पहले जैसी प्रचलित नहीं है। इसके लिए युवकों को लगभग चार माह तक अपने कबीले के इलाके का दौरा करना पड़ता है। इस यात्रा के अंत में वे छापामारों की तरह दौड़कर अपने अहाते में घुसते हैं। इस समारोह के मौके पर युवक ढीले कपड़े पहनते हैं और पूरे दिन नाचते रहते हैं। इस अनुष्ठान के साथ ही वे जीवन के एक नए चरण में पहुँच जाते हैं। लड़कियों को इस तरह के अनुष्ठानों से नहीं गुज़रना पड़ता। सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

युद्ध में बहादुरी का प्रदर्शन करके अपनी मर्दानगी साबित कर देते थे। फिर भी वे वरिष्ठ जनों के नीचे रह कर ही काम करते थे।

मासाइयों के मामलों की देखभाल करने के लिए अंग्रेज़ सरकार ने कई ऐसे फ़ैसले लिए जिनसे आने वाले सालों में बहुत गहरे असर पड़े। उन्होंने कई मासाई उपसमूहों के मुखिया तय कर दिए और अपने-अपने कबीले के सारे मामलों की ज़िम्मेदारी उन्हें ही सौंप दी। इसके बाद उन्होंने हमलों और लड़ाइयों पर पाबंदी लगा दी। इस तरह वरिष्ठ जनों और योद्धाओं, दोनों की परंपरागत सत्ता बहुत कमज़ोर हो गई।

जैसे-जैसे समय बीता, औपनिवेशिक सरकार द्वारा नियुक्त किए गए मुखिया माल इकट्ठा करने लगे। उनके पास नियमित आमदनी थी जिससे वे जानवर, साज़ो-सामान और ज़मीन खरीद सकते थे। वे अपने गरीब पड़ोसियों को लगान चुकाने के लिए कर्ज़ पर पैसा देते थे। उनमें से ज़्यादातर बाद में शहरों में जाकर बस गए और व्यापार करने लगे। उनके बीवी-बच्चे गाँव में ही रहकर जानवरों की देखभाल करते थे। उन्हें चरवाही और गैर-चरवाही, दोनों तरह की आमदनी होती थी। अगर उनके जानवर किसी वजह से घट जाएँ तो वे और जानवर खरीद सकते थे।

जो चरवाहे सिर्फ़ अपने जानवरों के सहारे ज़िंदगी बसर करते थे उनकी हालत अलग थी। उनके पास बुरे वक्त का सामना करने के लिए अकसर साधन नहीं होते थे। युद्ध और अकाल के दौरान उनका सब कुछ खत्म हो जाता था। तब उन्हें काम की तलाश में आसपास के शहरों की शरण लेनी पड़ती थी। कोई कच्चा कोयला जलाने का काम करने लगता था तो कोई कुछ और करता था। जिनकी तकदीर ज़्यादा अच्छी थी उन्हें सड़क या भवन निर्माण कार्यों में काम मिल जाता था।

इस तरह मासाई समाज में दो स्तरों पर बदलाव आए। पहला, वरिष्ठ जनों और योद्धाओं के बीच उम्र पर आधारित परंपरागत फ़र्क पूरी तरह खत्म भले न हुआ हो पर बुरी तरह अस्त-व्यस्त ज़रूर हो गया। दूसरा, अमीर और गरीब चरवाहों के बीच नया भेदभाव पैदा हुआ।

निष्कर्ष

इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक विश्व में आए बदलावों से दुनिया के अलग-अलग चरवाहा समुदायों पर अलग-अलग तरह के असर पड़े हैं। नए कानूनों और सीमाओं ने उनकी आवाजाही का ढर्रा बदल दिया। जैसे-जैसे चरागाह खत्म होते गए, जानवरों को चराना एक मुश्किल काम होता चला गया और जो चरागाह बचे थे वे भी अत्यधिक इस्तेमाल की वजह से बेकार हो गए। सूखे के समय उनकी समस्याएँ पहले से भी ज़्यादा बढ़ गईं क्योंकि तब उनके जानवर बड़ी तादाद में दम तोड़ने लगते थे। अब उनके आने-जाने पर बहुत सारी बंदिशें थोप दी गई थीं इसलिए वे नए चरागाहों की तलाश भी नहीं कर सकते थे।

फिर भी चरवाहे बदलते वक्त के हिसाब से ख़ुद को ढालते हैं। वे अपनी सालाना आवाजाही का रास्ता बदल लेते हैं, जानवरों की संख्या कम कर लेते हैं, नए इलाकों में दाखिल होने के लिए हर संभव लेन-देन करते हैं और राहत, रियायत व मदद के लिए सरकार पर राजनीतिक दबाव डालते हैं। वे उन इलाकों में अपने अधिकारों को बचाए रखने के लिए अपना संघर्ष जारी रखते हैं जहाँ से उन्हें खदेड़ने की कोशिश की जाती है और जंगलों के रखरखाव और प्रबंधन में अपना हिस्सा माँगते हैं।

चरवाहे अतीत के अवशेष नहीं हैं। वे ऐसे लोग नहीं हैं जिनके लिए आज की आधुनिक दुनिया में कोई जगह नहीं है। पर्यावरणवादी और अर्थशास्त्री अब इस बात को काफ़ी गंभीरता से मानने लगे हैं कि घुमंतू चरवाहों की जीवनशैली दुनिया के बहुत सारे पहाड़ी और सूखे इलाकों में जीवनयापन के लिए सबसे ज़्यादा उपयुक्त है।

चित्र 18 – जयपुर राजमार्ग पर राइका गड़रिये.
बड़ी सड़कों पर भारी यातायात ने गड़रियों के नए इलाके में जाने की प्रक्रिया को एक नया अनुभव बना दिया है।

क्रियाकलाप

1. कल्पना कीजिए कि यह 1950 का समय है और आप 60 वर्षीय राइका पशुपालक हैं। आप अपनी पोती को बता रहे हैं कि आज़ादी के बाद से आपके जीवन में क्या बदलाव आए हैं। आप उसे क्या बताएँगे?
2. मान लीजिए कि आपको एक प्रसिद्ध पत्रिका ने उपनिवेशवाद से पहले अफ़्रीका में मासाइयों की स्थिति के बारे में एक लेख लिखने के लिए कहा है। वह लेख लिखिए और उसे एक सुंदर शीर्षक दीजिए।
3. चित्र 11 और 13 में चिह्नित चरवाहा समुदायों में से कुछ समुदायों के बारे में और जानकारियाँ इकट्ठा कीजिए।

क्रियाकलाप

प्रश्न

?

1. स्पष्ट कीजिए कि घुमंतू समुदायों को बार-बार एक जगह से दूसरी जगह क्यों जाना पड़ता है? इस निरंतर आवागमन से पर्यावरण को क्या लाभ हैं?
2. इस बारे में चर्चा कीजिए कि औपनिवेशिक सरकार ने निम्नलिखित कानून क्यों बनाए? यह भी बताइए कि इन कानूनों से चरवाहों के जीवन पर क्या असर पड़ा :
   - ➢ परती भूमि नियमावली
   - ➢ वन अधिनियम
   - ➢ अपराधी जनजाति अधिनियम
   - ➢ चराई कर
3. मासाई समुदाय के चरागाह उससे क्यों छिन गए? कारण बताएँ।
4. आधुनिक विश्व ने भारत और पूर्वी अफ़्रीकी चरवाहा समुदायों के जीवन में जिन परिवर्तनों को जन्म दिया उनमें कई समानताएँ थीं। ऐसे दो परिवर्तनों के बारे में लिखिए जो भारतीय चरवाहों और मासाई गड़रियों, दोनों के बीच समान रूप से मौजूद थे।